तित्थयर

पंचदश वर्ष : फरवरी १९९२ : दशम अंक

जैन भवन

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १५ : अंक १०

फरवरी १९९२

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर २९१

पाण्डव पुराण में राजनैतिक स्थिति ३०३

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ३१४

संकलन ३१८

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या ३१९

महावीर, कन्नानगुडि

प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर

पं० सुखलाल संघवी

भारतीय दर्शन अध्यात्मलक्ष्य हैं। पश्चिमीय दर्शनों की तरह वे मात्र बुद्धि प्रधान नहीं हैं। उनका उद्गम ही आत्मशुद्धि की दृष्टि से हुआ है। वे आत्म-तत्व को और उसकी शुद्धि को लक्ष्य में रखकर ही बाह्य जगत का भी विचार करते हैं। इसलिए सभी आस्तिक भारतीय दर्शनों के मौलिक तत्व एक से ही हैं।

जैन दर्शन का स्रोत भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के पहले से ही किसी न किसी रूप में चला आ रहा है यह वस्तु इतिहाससिद्ध है। जैन दर्शन की दिशा चारित्र-प्रधान है जो कि मूल आधार आत्म-शुद्धि की दृष्टि से विशेष संगत है। उसमें ज्ञान, भक्ति आदि तत्वों का स्थान अवश्य है पर वे सभी तत्व चारित्र-पर्यवसायी हों तभी जैनत्व के साथ संगत हैं। केवल जैन परम्परा में ही नहीं बल्कि वैदिक, बौद्ध आदि सभी परंपराओं में जब तक आध्यात्मिकता का प्राधान्य रहा या वस्तुतः उनमें आध्यात्मिकता जीवित रही तब तक उन दर्शनों में तर्क और वाद का स्थान होते हुये भी उसका प्राधान्य न रहा। इसीलिए इन सभी परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में उतना तर्क और वादताण्डव नहीं पाते हैं जितना उत्तरकालीन ग्रन्थों में।

आध्यात्मिकता और त्याग की सर्वसाधारण में निःसीम प्रतिष्ठा जम चुकी थी। अतएव उस आध्यात्मिक पुरुष के आसपास सम्प्रदाय भी अपने आप कमने लगते थे। जहाँ सम्प्रदाय बने कि फिर उनमें मूल तत्व में भेद न होने पर भी छोटी-छोटी बातों में और अवान्तर प्रश्नों में मतभेद और तज्जन्य विवादों का होता रहना स्वाभाविक है। जैसे जैसे सम्प्रदायों की नींव गहरी होती गई और वे फैलने लगे वैसे-वैसे उनमें परस्पर विचार-संघर्ष भी बढ़ता रहा, जैसे अनेक छोटे-बड़े राज्यों के बीच चढ़ा-ऊतरी का संघर्ष होता रहता है। राजकीय संघर्षों ने यदि लोकजीवन में क्षोभ किया है तो उतना ही क्षोभ बल्कि उससे भी अधिक क्षोभ साम्प्रदायिक संघर्ष ने किया है। इस संघर्ष में पड़ने के कारण सभी आध्यात्मिक दर्शन तर्कप्रधान बनने लगे। कोई आगे तो कोई पीछे पर सभी दर्शनों में तर्क और न्याय का बोलवाला शुरू हुआ। प्राचीन समय में जो आन्वीक्षिकी एक सर्वसाधारण खास विद्या थी उसका आधार लेकर धीरे-धीरे सभी सम्प्रदायों ने अपने दर्शन के अनुकूल आन्वीक्षिकी की रचना की। मूल आन्वीक्षिकी विद्या वैशेषिक दर्शन के साथ घुल मिल

गई पर उसके आधार से कभी बौद्ध-परम्परा ने तो कभी मीमांसकों ने, कभी सांख्य ने तो कभी जैनों ने, कभी अद्वैत वेदान्त ने तो कभी अन्य वेदान्त परम्पराओं ने अपनी स्वतन्त्र आन्वीक्षिकी की रचना शुरू कर दी। इस तरह इस देश में प्रत्येक प्रधान दर्शन के साथ एक या दूसरे रूप में तर्कविद्या का सम्बन्ध अनिवार्य हो गया।

जब प्राचीन आन्वीक्षिकी का विशेष बल देखा तब बौद्धों ने सम्भवतः सर्व प्रथम अलग स्वानुकूल आन्वीक्षिकी का खाका तैयार करना शुरू किया। संभवतः फिर मीमांसक ऐसा करने लगे। जैन सम्प्रदाय अपनी मूल प्रकृति के अनुसार अधिकतर संयम, त्याग, तपस्या आदि पर विशेष भार देता आ रहा था; पर आसपास के वातावरण ने उसे भी तर्कविद्या की ओर झुकाया। जहाँ तक हम जान पाये हैं, उससे मालूम पड़ता है कि विक्रम की ५वीं शताब्दी तक जैन दर्शन का खास झुकाव स्वतंत्र तर्क विद्या की ओर न था। उसमें जैसे-जैसे संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रबल होता गया वैसे-वैसे तर्क विद्या का आकर्षण भी बढ़ता गया। पांचवीं शताब्दी के पहले के जैन वाङ्मय और इसके बाद के जैन वाङ्मय में हम स्पष्ट भेद देखते हैं। अब देखना यह है कि जैन वाङ्मय के इस परिवर्तन का आदि सूत्रधार कौन है? और उसका स्थान भारतीय विद्वानों में कैसा है?

आदि जैन तार्किक

जहाँ तक मैं जानता हूँ, जैन परम्परा में तर्क विद्या का और तर्क प्रधान संस्कृत वाङ्मय के आदि प्रणेता हैं सिद्धसेन दिवाकर। मैंने दिवाकर के जीवन और कार्यों के सम्बन्ध में अन्यत्र[१] विस्तृत ऊहापोह किया है; यहां तो यथासंभव संक्षेप में उनके व्यक्तित्व का सोदाहरण परिचय कराना है।

सिद्धसेन का सम्बन्ध उनके जीवनकथानकों के अनुसार उज्जैनी और उसके अधिप विक्रम के साथ अवश्य रहा है, पर वह विक्रम कौन था यह एक विचारणीय प्रश्न है। अभी तक के निश्चित प्रमाणों से जो सिद्धसेन का समय विक्रम की पांचवीं और छठी शताब्दी का मध्य जान पड़ता है, उसे देखते हुए अधिक संभव यह है कि उज्जैनी का वह राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय या उसका पौत्र स्कन्दगुप्त होगा। जो कि विक्रमादित्य रूप से प्रसिद्ध रहे।

---

१ देखिए गुजरात विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित सन्मतितर्क का गुजराती भाषान्तर, भाग ६, तथा उसीका इंग्लिश भाषान्तर, श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेन्स, पायधुनी, बोम्बे, द्वारा प्रकाशित।

सभी नये पुराने उल्लेख यही कहते हैं कि सिद्धसेन जन्म से ब्राह्मण थे। यह कथन बिल्कुल सत्य जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने प्राकृत जैन वाङ्मयको संस्कृत में रूपान्तरित करने का जो विचार निर्भयता से सर्वप्रथम प्रकट किया वह ब्राह्मण-सुलभ शक्ति और रुचि का ही द्योतक है। उन्होंने उस युग में जैन दर्शन तथा दूसरे दर्शनों को लक्ष्य करके जो अत्यन्त चमत्कारपूर्ण संस्कृत पद्यबद्ध कृतियों की देन दी है वह भी जन्मसिद्ध ब्राह्मणत्व की ही द्योतक है। उनकी जो कुछ थोड़ी बहुत कृतियाँ प्राप्त है उनका एक एक पद और वाक्य उनकी कवित्व विषयक, तर्क विषयक, और समग्र भारतीय दर्शन विषयक तलस्पर्शी प्रतिभा को व्यक्त करता है।

आदि जैन कवि एवं आदि जैन स्तुतिकार

हम जब उनका कवित्व देखते हैं तब अश्वघोष, कालिदास आदि याद आते हैं। ब्राह्मण धर्म में प्रतिष्ठित आश्रम व्यवस्था के अनुगामी कालिदास ने लग्नभावना का औचित्य बतलाने के लिये लग्नकालीन नगर प्रवेश का प्रसंग लेकर उस प्रसंग से हर्षोत्सुक स्त्रियों के अवलोकन कौतुक का जो मार्मिक शब्द चित्र खींचा है वैसा चित्र अश्वघोष के काव्य में और सिद्धसेन की स्तुति में भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि अश्वघोष और सिद्धसेन दोनों श्रमणधर्म में प्रतिष्ठित एकमात्र त्यागाश्रम के अनुगामी हैं इसलिए उनका वह चित्र वैराग्य और गृहत्याग के साथ मेल खाए ऐसा है। अतः उसमें बुद्ध और महावीर के गृहत्याग से खिन्न और उदास स्त्रियों की शोकजनित चेष्टाओं का वर्णन है, नहीं कि हर्षोत्सुक स्त्रियों की चेष्टाओं का। तुलना के लिए नीचे के पद्यों को देखिए—

अपूर्वशोकोपतनक्लमानि नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि।
विविक्तशोभान्यबलाननानि विलापदाक्षिण्यपरायणानि ॥
मुग्धोन्मुखाक्षाण्युपदिष्टवाक्यसंदिग्धजल्पानि पुरःसराणि।
बालानि मार्गाचरणक्रियाणि प्रलंबवस्त्रान्तविकर्षणानि ॥
अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीघदीनेक्षणाः साश्रुमुखाश्च पौराः।
संसारसात्म्यज्ञजनैकबन्धो न भावशुद्धं जगृहुर्मनस्ते ॥

—सिद्ध० ५-१०, ११, १२

अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिताः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्चलाः ॥
विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेक्षणैर्मुखैः।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया बिनाकृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥

अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखैः।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनैः॥
—अश्व० बुद्ध० सर्ग ८-२०, २१, २२

तस्मिन् मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम्।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥ ५६
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ ५९
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥ ६२
कालि० कुमार० सर्ग ७

सिद्धसेन ने गद्य में कुछ लिखा हो तो पता नहीं है। उन्होंने संस्कृत में बत्तीस बत्तीसियाँ रची थीं, जिनमें से इक्कीस अभी लभ्य है। उनका प्राकृत में रचा 'सम्मति प्रकरण' जैनदृष्टि और जैन मन्तव्यों को तर्क शैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करने वाला जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम ग्रन्थ है। जिसका आश्रय उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर विद्वानों ने लिया है।

संस्कृत बत्तीसियों में शुरू की पांच और ग्यारहवीं स्तुतिरूप हैं। प्रथम की पाँच में महावीर की स्तुति है जबकि ग्यारहवीं में किसी पराक्रमी और विजेता राजा की स्तुति है। ये स्तुतियाँ अश्वघोष समकालीन बौद्ध स्तुतिकार मातृचेट के 'अध्यर्धशतक', 'चतुःशतक' तथा पश्चाद्वर्ती आर्यदेव के चतुःशतक शैली की याद दिलाती हैं। सिद्धसेन ही जैन परम्परा का आद्य संस्कृत स्तुतिकार है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो कहा है 'क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षिता लापकला क्व चैषा' वह बिल्कुल सही है। स्वामी समन्तभद्र का 'स्वयंभूस्तोत्र' जो एक हृदयहारिणी स्तुति है और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो दार्शनिक स्तुतियाँ ये सिद्धसेन की कृतियों का अनुकरण जान पड़ती हैं। हेमचन्द्र ने भी उन दोनों का अपनी दो बत्तीसियों के द्वारा अनुकरण किया है।

बारहवीं सदी के आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में उदाहरण रूप में लिखा है कि 'अनुसिद्धसेनं कवयः'। इसका भाव यदि यह हो कि जैन परम्परा के संस्कृत कवियों में सिद्धसेन का स्थान सर्वप्रथम है (समय की दृष्टि से और गुणवत्ता की दृष्टि से अन्य सभी जैन कवियों का स्थान सिद्धसेन के बाद आता है) तो वह कथन आज तक के जैनवाङ्मय की दृष्टि से अक्षरशः सत्य है। उनकी स्तुति और कविता के कुछ नमूने देखिये—

स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥
समन्तमर्वाक्षगुणं निरक्षं स्वयंप्रभं सर्वगतावभासम् ।
अतीतसंख्यानमनंतकल्पमचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥
कुहेतुतर्कोपरतप्रपञ्चसद्भावशुद्धाप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासनवर्धमानं स्तोष्ये यतीन्द्रं जिनवर्धमानम् ॥

स्तुति का यह प्रारम्भ उपनिषद् की भाषा और परिभाषा में विरोधालंकारगर्भित है ।

एकान्तनिर्गुणभवान्तमुपेत्य सन्तो यत्नार्जितानपि गुणान् जहति क्षणेन ।
क्लीबादरस्त्वयि पुनर्व्यसनोल्वणानि भुंक्ते चिरं गुणफलानि हितापनष्टः ॥

इसमें सांख्य परिभाषा के द्वारा विरोधाभास गर्भित स्तुति है ।

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः,
स्वभावनियताः प्रजाः समयतंत्रवृत्ताः क्वचित् ।
स्वयं कृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्नवा विषदवाददोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः ॥

इसमें श्वेताश्वतर उपनिषद् के भिन्न-भिन्न कारणवाद के समन्वय द्वारा वीर के लोकोत्तरत्वका सूचन है ।

कुलिशेन सहस्रलोचनः सविता चांशुसहस्रलोचनः ।
न विदारयितुं यदीश्वरो जगतस्तद्भवता हतं तमः ॥

इसमें इन्द्र और सूर्य से उत्कृष्टत्व दिखाकर वीर के लोकोत्तरत्व का व्यंजन किया है ।

न सदःसु वदन्नशिक्षितो लभते वक्तृविशेषगौरवम् ।
अनुपास्य गुरुं त्वया पुनर्जगदाचार्यकमेव निर्जितम् ॥

इसमें व्यतिरेक के द्वारा स्तुति की है कि हे भगवन् ! आपने गुरुसेवा के बिना किये भी जगत का आचार्य पद पाया है जो दूसरों के लिए संभव नहीं ।

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

इसमें सरिता और समुद्र की उपमा के द्वारा भगवान् में सब दृष्टियों के अस्तित्व का कथन है जो अनेकान्तवाद की जड़ है ।

गतिमानथ चाक्रियः पुमान् कुरुते कर्म फलैर्न युज्यते ।
फलभुक् च न चार्जनक्षमो विदितो यैर्विदितोऽसि तैर्मुने ॥

इसमें विभावना, विशेषोक्ति के द्वारा आत्म-विषयक जैन मन्तव्य प्रकट किया है।

किसी पराक्रमी और विजेता नृपति के गुणों की समग्र स्तुति लोकोत्तर कवित्वपूर्ण है। एक ही उदाहरण देखिए—

एकां दिशं व्रजति यद्गतिमद्गतं च तत्रस्थमेव च विभाति दिगन्तरेषु।
यातं कथं दशदिगन्तविभक्तमूर्ति युज्येत वक्तुमुत वा न गतं यशस्ते॥

आद्य जैन वादी

दिवाकर आद्य जैन वादी है। वे वादविद्या के संपूर्ण विशारद जान पड़ते हैं, क्योंकि एक तरफ से उन्होंने सातवीं वादोपनिषद् बत्तीसी में वादकालीन सब नियमोपनियमों का वर्णन करके कैसे विजय पाना यह बतलाया है तो दूसरी तरफ से आठवीं बत्तीसी में वाद का पूरा परिहास भी किया है।

दिवाकर आध्यात्मिक पथ के त्यागी पथिक थे और वाद कथा के भी रसिक थे। इसलिए उन्हें अपने अनुभव से जो आध्यात्मिकता और वाद-विवाद में असंगति दीख पड़ी उसका मार्मिक चित्रण खींचा है। वे एक मांस-पिण्ड में लुब्ध और लड़नेवाले दो कुत्तों में तो कभी मैत्री की संभावना कहते हैं; पर दो सहोदर वादियों में कभी सख्य का संभव नहीं देखते। इस भाव का उनका चमत्कारी उद्गार देखिए—

ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसंगजातमत्सरयोः।
स्यात् सख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात्॥ ८, १

वे स्पष्ट कहते हैं कि कल्याण का मार्ग अन्य है और वादीका मार्ग अन्य; क्योंकि किसी मुनि ने वाग्युद्ध को शिव का उपाय नहीं कहा है—

अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरंभं क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥

आद्य जैन दार्शनिक व आद्य सर्वदर्शनसंग्राहक

दिवाकर आद्य जैन दार्शनिक तो है ही, पर साथ ही वे आद्य सर्व भारतीय दर्शनों के संग्राहक भी हैं। सिद्धसेन के पहले किसी भी अन्य भारतीय विद्वान ने संक्षेप में सभी भारतीय दर्शनों का वास्तविक निरूपण यदि किया हो तो उसका पता अभीतक इतिहास को नहीं है। एक बार सिद्धसेन के द्वारा सब दर्शनों के वर्णन की प्रथा प्रारम्भ हुई कि फिर आगे उसका अनुकरण किया जाने लगा। आठवीं सदी के हरिभद्र ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' लिखा, चौदहवीं सदी के माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' लिखा; जो सिद्धसेन के द्वारा प्रारम्भ

की हुई प्रथा का विकास है। जान पड़ता है सिद्धसेन ने चार्वाक, मीमांसक आदि प्रत्येक दर्शन का वर्णन किया होगा, परन्तु अभी जो बत्तीसियां लभ्य हैं उनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, आजीवक और जैन दर्शन की निरूपक बत्तीसियां ही हैं। जैन दर्शन का निरूपण तो एकाधिक बत्तीसियों में हुआ है। पर किसी भी जैन जैनेतर विद्वान को आश्चर्य चकित करने वाली सिद्धसेन की प्रतिभा का स्पष्ट दर्शन तब होता है जब हम उनकी पुरातनत्व समालोचना विषयक और वेदान्त विषयक दो बत्तीसियों को पढ़ते हैं। यदि स्थान होता तो उन दोनों ही बत्तीसियों को मैं यहाँ पूर्णरूपेण देता। मैं नहीं जानता कि भारत में ऐसा कोई विद्वान हुआ हो जिसने पुरातनत्व और नवीनत्व की इतनी क्रान्तिकारिणी तथा हृदयहारिणी एवं तलस्पर्शिनी निर्भय समालोचना की हो। मैं ऐसे विद्वान को भी नहीं जानता कि जिस अकेले ने एक बत्तीसी में प्राचीन सब उपनिषदों तथा गीता का सार वैदिक और औपनिषद भाषा में ही शाब्दिक और आर्थिक अलङ्कार युक्त चमत्कारिणी सरणी से वर्णित किया हो। जैन परम्परा में तो सिद्धसेन के पहले और पीछे आज तक ऐसा कोई विद्वान हुआ ही नहीं है जो इतना गहरा उपनिषदों का अभ्यासी रहा हो और औपनिषद भाषा में ही औपनिषद तत्व का वर्णन भी कर सके। पर जिस परम्परा में सदा एक मात्र उपनिषदों की तथा गीता की प्रतिष्ठा है उस वेदान्त परम्परा के विद्वान भी यदि सिद्धसेन की उक्त बत्तीसी को देखेंगे तब उनकी प्रतिभा के कायल होकर यही कह उठेंगे कि आज तक यह ग्रन्थरत्न दृष्टिपथ में आने से क्यों रह गया। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत बत्तीसी की ओर किसी भी तीक्ष्ण-प्रज्ञ वैदिक विद्वान का ध्यान जाता तो वह उस पर कुछ न कुछ बिना लिखे न रहता। मेरा यह भी विश्वास है कि यदि कोई मूल उपनिषदों का साम्नाय अध्येता जैन विद्वान होता तो भी उस पर कुछ न कुछ लिखता। जो कुछ हो, मैं तो यहाँ सिद्धसेन की प्रतिभा के निदर्शक रूप से प्रथम के कुछ पद्य भाव सहित देता हूँ।

कभी-कभी सम्प्रदायाभिनिवेश वश अपढ़ व्यक्ति भी, आजही की तरह उस समय भी विद्वानों के सम्मुख चर्चा करने की धृष्टता करते होंगे। इस स्थिति का मजाक करते हुए सिद्धसेन कहते हैं कि बिना ही पढ़े पण्डितंमन्य व्यक्ति विद्वानों के सामने बोलने की इच्छा करता है फिर भी उसी क्षण वह नहीं फट पड़ता तो प्रश्न होता है कि क्या कोई देव-शक्तियां दुनिया पर शासन करने वाली है भी सही ? अर्थात् यदि कोई न्यायकारी देव होता तो ऐसे व्यक्ति को तत्क्षण ही सीधा क्यों नहीं करता ?

यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः ।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवता ॥ ६.१

विरोधी बढ़ जाने के भय से सच्ची बात भी कहने में बहुत समालोचक हिचकिचाते हैं। इस भीरु मनोदशा का जवाब देते हुए दिवाकर कहते हैं कि पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था स्थिर की है क्या वह सोचने पर वैसी ही सिद्ध होगी ? अर्थात् सोचने पर उसमें त्रुटि दिखेगी तब केवल उन मृत पुरुषों की जमी प्रतिष्ठा के कारण हाँ में हाँ मिलाने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। यदि विद्वेषी बढ़ते हों तो बढ़ें।

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहन्न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ॥ ६.३

हमेशा पुरातन प्रेमी, परस्पर विरुद्ध अनेक व्यवहारों को देखते हुए भी अपने इष्ट किसी एक को यथार्थ और बाकी को अयथार्थ करार देते हैं। इस दशा से ऊब कर दिवाकर कहते हैं कि—सिद्धान्त और व्यवहार अनेक प्रकार के हैं, वे परस्पर विरुद्ध भी देखे जाते हैं। फिर उनमें से किसी एक की सिद्धि का निर्णय जल्दी कैसे हो सकता है ? तथापि यही मर्यादा है दूसरी नहीं—ऐसा एक तरफ निर्णय कर लेना यह तो पुरातन प्रेम से जड़ बने हुए व्यक्ति को ही शोभा देता है, मुझ जैसे को नहीं।

बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः ।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजलस्य युज्यते ॥ ६.४

जब कोई नई चीज आई तो चट से सनातन संस्कारी कह देते हैं कि, यह तो पुराना नहीं है। इसी तरह किसी पुरातन बात की कोई योग्य समीक्षा करे तब भी वे कह देते हैं कि यह तो बहुत पुराना है, इसकी टीका न कीजिए। इस अविवेकी मानस को देख कर मालविकाग्निमित्र में कालिदास को कहना पड़ता है कि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

ठीक इसी तरह दिवाकर ने भी भाष्यरूप से कहा है कि—यह जीवित वर्तमान व्यक्ति भी मरने पर आगे की पीढ़ी की दृष्टि से पुराना होगा; तब वह भी पुरातनों की ही गिनती में आ जायगा। जब इस तरह पुरातनता अनवस्थित है अर्थात् नवीन भी कभी पुरातन है और पुराने भी कभी नवीन रहे; तब फिर अमुक वचन पुरातन कथित है ऐसा मान कर परीक्षा बिना किए उस पर कौन विश्वास करेगा ?

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥ ६.५

पुरातन प्रेम के कारण परीक्षा करने में आलसी बन कर कई लोग ज्यों-ज्यों सम्यग् निश्चय कर नहीं पाते हैं त्यों-त्यों वे उलटे मानों सम्यग् निश्चय कर लिया हो इतने प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि पुराने गुरु जन मिथ्याभाषी थोड़े हो सकते हैं ? मैं खुद मन्दमति हूँ उनका आशय नहीं समझता तो क्या हुआ ? ऐसा सोचने वालों को लक्ष्य में रखकर दिवाकर कहते हैं कि वैसे लोग आत्मनाश की ओर ही दौड़ते हैं ।

विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥

शास्त्र और पुराणों में दैवी चमत्कारों और असम्बद्ध घटनाओं को देखकर जब कोई उनकी समीक्षा करता है तब अन्धश्रद्धालु कह देते हैं, कि भाई ! हम ठहरे मनुष्य, और शास्त्र तो देव रचित हैं; फिर उनमें हमारी गति ही क्या ? इस सर्व सम्प्रदाय-साधारण अनुभव को लक्ष्य में रखकर दिवाकर कहते हैं, कि हम जैसे मनुष्यरूपधारियों ने ही मनुष्यों के ही चरित्र, मनुष्य अधिकारी के ही निमित्त ग्रथित किये हैं । वे परीक्षा में असमर्थ पुरुषों के लिए अपार और गहन भले ही हों पर कोई हृदयवान् विद्वान् उन्हें अगाध मानकर कैसे मान लेगा ? वह तो परीक्षापूर्वक ही उनका स्वीकार-अस्वीकार करेगा ।

मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ॥ ६.७

हम सभी का यह अनुभव है कि कोई सुसंगत अद्यतन मानवकृति हुई तो उसे पुराणप्रेमी नहीं छूते जबकि वे किसी अस्त-व्यस्त और असंबद्ध तथा समझ में न आ सके ऐसे विचार वाले शास्त्र के प्राचीनों के द्वारा कहे जाने के कारण प्रशंसा करते नहीं अघाते । इस अनुभव के लिए दिवाकर इतना ही कहते हैं कि वह मात्र स्मृतिमोह है, उसमें कोई विवेकपटुता नहीं ।

यदेव किञ्चिद्विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्यमनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ॥ ६.८

हम अंत में इस परीक्षा-प्रधान बत्तीसीका एक ही पद्य भावसहित देते हैं—

न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणवबोधप्रभवं हि गौरवं कुलांगनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ॥ ६.२८

भाव यह है कि लोग किसी न किसी प्रकार के बड़प्पन के आवेश से, प्रस्तुत में क्या युक्त है और क्या अयुक्त है, इसे तत्त्वतः नहीं देखते । परन्तु

सत्य बात तो यह है कि बड़प्पन गुणदृष्टि में ही है। इसके सिवाय का बड़प्पन निरा कुलांगना का चरित है। कोई अङ्गना मात्र अपने खानदान के नाम पर सद्वृत्त सिद्ध नहीं हो सकती।

अन्त में यहाँ मैं सारी उस वेदान्त विषयक द्वात्रिंशिका को मूल मात्र दिए देता हूँ। यद्यपि इसका अर्थ द्वैतसांख्य और वेदान्त उभय दृष्टि से होता है तथापि इसकी खूबी मुझे यह भी जान पड़ती है कि उसमें औपनिषद भाग जैन तत्त्वज्ञान भी अबाधित रूप से कहा गया है। शब्दों का सेतु पार करके यदि कोई सूक्ष्मप्रज्ञ अर्थ गाम्भीर्य का स्पर्श करेगा तो इसमें से बौद्ध दर्शन का भाव भी पकड़ सकेगा। अतएव इसके अर्थ का विचार मैं स्थान संकोच के कारण पाठकों के ऊपर ही छोड़ देता हूँ। प्राच्य उपनिषदों के तथा गीता के विचार और वाक्यों के साथ इसकी तुलना करने की मेरी इच्छा है, पर इसके लिए अन्य स्थान उपयुक्त होगा।

अजः पतंगः शबलो विश्वमयो धत्ते गर्भमचरं चरं च।
योऽस्याध्यक्षमकलं सर्वधान्यं वेदातीतं वेद वेद्यं स वेद॥ १
स एवैतद्विश्वमधितिष्ठत्येकस्तमेवैनं विश्वमधितिष्ठत्येकम्।
स एवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्यं तमेवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्यम्॥ २
स एवैतद्‌भवनं सृजति विश्वरूपस्तमेवैतत्सृजति भुवनं विश्वरूपम्।
न चैवैनं सृजति कश्चिन्नित्यजातं न चासौ सृजति भुवनं नित्यजातम्॥ ३
एकायनशतात्मानमेकं विश्वात्मानममृतं जायमानम्।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति यस्तं च वेद किमृचा करिष्यति॥४
सर्वद्वारा निभृत(ता) मृत्युपाशैः स्वयंप्रभानेकसहस्रपर्वा।
यस्यां वेदाः शेरते यज्ञगर्भाः सैषा गुहा गूहते सर्वमेतत्॥ ५
भावोभावो निःतत्त्वो [सतत्त्वो] नारंजनो [रंजनो] यः प्रकारः।
गुणात्मको निर्गुणो निष्प्रभावो विश्वेश्वरः सर्वमयो न सर्वः॥ ६
सृष्ट्वा सृष्ट्वा स्वयमेवोपभुंक्ते सर्वश्चायं भूतेसर्गो यतश्च।
न चास्यान्यत्कारणं सर्गसिद्धौ न चात्पान सृजते नापि चान्यान्॥ ७
निरिन्द्रियचक्षुषा वेत्ति शब्दान् श्रोत्रेण रूपं जिघ्रति जिह्वया च।
पादैर्ब्रवीति शिरसा याति तिष्ठन् सर्वेण सर्वं कुरुते मन्यते च॥ ८
शब्दातीतः कथ्यते वावदूकैर्ज्ञानातीतो ज्ञायते ज्ञानवद्भिः।
बन्धातीतो बध्यते क्लेशपाशैर्मोक्षातीतो मुच्यते निर्विकल्पः॥ ९
नायं ब्रह्मा न कपर्दी न विष्णुर्ब्रह्मा चायं शंकरश्चाच्युतश्च।
अस्मिन् मूढाः प्रतिमाः कल्पयन्तो(न्ते) ज्ञानश्चायं न च भूयो नमोऽस्ति॥१०

आपो वह्निर्मातरिश्वा हुताशः सत्यं मिथ्या वसुधा मेघयानम् ।
ब्रह्मा कीटः शंकरस्तार्क्ष(क्ष्य) केतुः सर्वं सर्वथा सर्वतोऽयम् ॥ ११
स एवायं निभृता येन सत्त्वाः शश्वद्दुःखा दुःखमेवापियन्ति ।
स एवायमृषयो यं विदित्वा व्यतीत्य नाकममृतं स्वादयन्ति ॥१२
विद्याविद्ये यत्र नो संभवेते यन्नासन्नं नो दवीयो न गम्यम् ।
यस्मिन्मृत्युर्नेहते नो तु कामा (कामः) स सोऽक्षरः परमं ब्रह्म वेद्यम् ॥१३
ओतप्रोताः पशवो येन सर्वे ओतप्रोतः पशुभिश्चैष सर्वैः ।
सर्वे चेमे पशवस्तस्य होम्यं तेषां चायमीश्वरः संवरेण्यः ॥१४
तस्यैवैता रश्मयः कामधेनोर्याः पाप्मानमदुहानाः क्षरन्ति ।
येनाध्याताः पंच जनाः स्वपन्ति [प्रोद्बुद्धास्ते] स्वं परिवर्तमानाः ॥१५
तमेवाश्वत्थमृषयो वामनन्ति हिरण्मयं व्यस्तसहस्रशीर्षम् ।
मनःशयं शतशाखप्रशाखं यस्मिन् बीजं विश्वमोतं प्रजानाम् ॥१६
स गीयते वीयते चाध्वरेषु मन्त्रान्तरात्मा ऋग्यजुःसामशाखः ।
अधःशयो विततांगो गुहाध्यक्षः स विश्वयोनिः पुरुषो नैकवर्णः ॥१७
तेनैवैतद्विततं ब्रह्मजालं दुराचरं दृष्ट्युपसर्गपाशम् ।
अस्मिन्मग्ना मानवा मानशल्यैर्विवेष्यन्ते पशवो जायमानाः ॥१८
अयमेवान्तश्चरति देवतानामस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
अयमुद्दण्डः प्राणभुक् प्रेतयानैरेष त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥१६
अपां गर्भः सविता वह्निरेष हिरण्मयश्चान्तरात्मा देवयानः ।
एतेन स्तंभिता सुभगा द्यौर्नभश्च गुर्वी चोर्वी सप्त च भीमयादसः ॥२०
मनः सोमः सविता चक्षुरस्य घ्राणं प्राणो मुखमस्याज्यपिवः ।
दिशः श्रोत्रं नाभिरंध्रमब्दयानं पादाविलाः सुरसाः सर्वमापः ॥२१
विष्णुर्बीजमंभोजगर्भः शंभुश्चायं कारणं लोकसृष्टौ ।
नैनं देवा विद्रते नो मनुष्या देवाश्चैनं विदुरितरेतराश्च ॥२२
अस्मिन्नुदेति सविता लोकचक्षुरस्मिन्नस्तं गच्छति चांशुगर्भः ।
एषोऽजस्रं वर्तते कालचक्रमेतेनायं जीवते जीवलोकः ॥२३
अस्मिन् प्राणाः प्रतिबद्धाः प्रजानामस्मिन्नस्ता रथनाभाविवाराः ।
अस्मिन् प्रीते शीर्णमूलाः पतन्ति प्राणाशंसाः फलमिव मुक्तवृन्तन् ॥२४
अस्मिन्नेकशतं निहितं मस्तकानामस्मिन् सर्वा भूतयश्चेतयश्च ।
महान्तमेनं पुरुषं वेद वेद्यं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥२५
विद्वानशश्चेतनोऽचेतनो वा स्रष्टा निरीहः स ह पुमानात्मतन्त्रः ।
क्षराकारः सततं चाक्षरात्मा विशीर्यन्ते वाचो युक्तयोऽस्मिन् ॥२६

बुद्धिर्बोद्धा बोधनीयोऽन्तरात्मा बाह्यश्चायं स परात्मा दुरात्मा ।
नासावेकं नापृथक् नापि बोधौ सर्वं चैतत् स्याद्वदन्तो यं द्विषन्ति ॥२७
सर्वात्मकं सर्वगतं परीतमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ।
बालं कुमारमजरं च वृद्धं य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २८
नास्मिन् शास्त्रे ब्रह्माणि ब्रह्मचर्यं नेज्या आपः स्वस्तयो नो पवित्रम् ।
नाहं नान्यो नो महान्नो कनीयान्निःसामान्यो जायते निर्विशेषः ॥२९
नैनं मत्वा शोचते नाभ्युपैति नाप्याशास्ते म्रियते जायते वा ।
नास्मिल्लोके गृह्यते नो परस्मिल्लोकातीतो वर्तते लोक एव ॥३०
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायेऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ३१
नानाकल्पं पश्यतो जीवलोकं नित्यासक्ता व्याधयश्चाधयश्च ।
यस्मिन्नेवं सर्वतः सर्वतत्त्वं दृष्टे देवे नो पुनस्तापमेति ॥ ३२[२]

उपसंहार

उपसंहार में सिद्धसेन का एक पद्य उद्धृत करता हूँ जिसमें उन्होंने धाष्ठर्य-पूर्ण वक्तृत्व या पाण्डित्य का उपहास किया है—

देवखातं च वदनं आत्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः ॥

सारांश यह है, कि मुख का गड्ढा तो दैवने ही खोद रखा है, अथवा यह अपने हाथ की बात है और सुननेवाला सर्वत्र सुलभ है; इसलिए वक्ता या पण्डित बनने के निमित्त यदि जरूरत है तो केवल निर्लज्जता की है। एक बार धृष्ट बन कर बोलिए फिर सब कुछ सरल है।

भारतीय विद्या, १९४५

---

२ इस बत्तीसी का विवेचन पंडितजी ने ही किया है, जो भारतीय विद्याभवन बंबई के द्वारा ई० १९४५ में प्रकाशित है। —सं०

पाण्डव पुराण में राजनैतिक स्थिति

रीता बिश्नोई

"पाण्डव पुराण" आचार्य शुभचन्द्र भट्टारक द्वारा वि० सं० १६०८ में रचित जैन पुराण है। इस ग्रन्थ में कौरव-पाण्डवों की कथा का वर्णन जैन मान्यता के अनुसार किया गया है। जैन साहित्य में यह पुराण "जैन-महाभारत" के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि आचार्य शुभचन्द्र ने महाभारत की कथा को लेकर ही इस पुराण की रचना की है तथापि इसमें वैदिक महाभारत की कथा से पद-पद पर भेद दृष्टिगोचर होता है। महाभारत कथा विषयक ग्रन्थ होने के कारण इसमें स्थान-स्थान पर राजनीति सम्बन्धी बातें स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। पाण्डव पुराण के अध्ययन से हमें पाण्डव पुराण में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के दर्शन होते हैं। पाण्डव पुराण में राजनीति सम्बन्धी जिन बातों की जानकारी मिलती है वे इस प्रकार हैं—

राज्य

पाण्डव पुराण के अध्ययन से राज्य की उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त को सर्वाधिक बल मिलता है वह है सामाजिक समझौते का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीन काल से एक प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राजा या राज्य जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इस प्राकृतिक व्यवस्था के विषय में पर्याप्त मतभेद है, कुछ इसे पूर्व-सामाजिक तो कुछ पूर्व-राजनैतिक अवस्था मानते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार प्राकृतिक नियमों को आधार मानकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुये भी यह सभी मानते हैं कि किसी न किसी कारण मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को त्यागने को विवश हुये और समझौते द्वारा राजनैतिक समाज की स्थापना की।[1] पाण्डव पुराण के अनुसार इस अवस्था को त्यागने का कारण समयानुसार साधनों की कमी तथा प्रकृति में परिवर्तन होना था।[2] इन्हीं सङ्कटों को दूर करने के लिये समय-समय पर विशेष

---

१ राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त (पुखराज जैन), पृ० १००-१०१

२ पाण्डव पुराण, २।१३६-१४२

व्यक्तियो का जन्म हुआ। इन व्यक्तियों को 'कुलकर' कहा गया है।[३] इन्होंने हा, मा और धिक्कार ऐसे शब्दों का दण्ड रूप में प्रयोग करके लोगों की आपत्ति दूर की। राज्य की उत्पत्ति का मूल इन कुलकरों और इनके कार्यों को ही कहा जा सकता है।

राजा

राज्य में राजा का महत्व सर्वोपरि है। राजा के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जाती है। मनु के अनुसार बिना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल-विचल हो जाता है। इस कारण सबकी रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया।[४] कामन्दक के अनुसार जगत् की उत्पत्ति एवं वृद्धि का एकमात्र कारण राजा ही होता है। राजा प्रजा के नेत्रों को उसी प्रकार आनन्द देता है जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र को आह्लादित करता है।[५] महाभारत में राजा को समाज का रक्षक बतलाते हुए कहा गया है कि प्रजा के धर्माचरण का मूल एकमात्र राजा होता है। राजा के डर से ही मनुष्य-समाज में शान्ति बनी रहती है राजा के अभाव में कोई वस्तु निरापद नहीं रह पाती। कृषि, वाणिज्य आदि राजा की सुव्यवस्था पर ही निर्भर होते हैं। राजा समाज का संचालक होता है, उसके अभाव में मनुष्य का जीवन दुसाध्य हो जाता है।[६] पाण्डव पुराण में राजा के महत्व को बतलाते हुए कहा गया है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। यदि राजा धर्माचरण करने वाला होता है तो प्रजा भी धर्म में स्थिर रहती है और यदि राजा पापी होता है तो प्रजा भी पापी हो जाती है और यदि राजा समानवृत्ति का होता है तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है।[७] इससे स्पष्ट है कि राजा के आचार-विचार तथा गुण-दोषों का प्रजा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार के राजाओं का उल्लेख हुआ है। सापेक्ष राजा अपने जीवन काल में ही पुत्र को राज्य भार सौंप देते थे जिससे गृह-युद्ध की सम्भावना न रहे। निरपेक्ष राजा अपने जीते जी राज्य

---

३ वही, २।१०७

४ मनुस्मृति, ७।३

५ कामन्दक नीतिसार, १६

६ महाभारत, शान्तिपर्व, ६८ अध्याय

७ पाण्डव पुराण, १७।२६०

का उत्तराधिकारी किसी को नहीं बनाते थे। पाण्डव पुराण में प्रथम प्रकार के सापेक्ष राजाओं की स्थिति दृष्टिगोचर होती है—आदिप्रभु द्वारा बाहुबली कुमार को पोदनपुर का राज्य तथा अन्य निन्यानवे पुत्रों को भिन्न-भिन्न देश का राज्य देना,[८] राजा सोमप्रभः द्वारा अपने पुत्रों में समस्त राज्य विभक्त करना[९] आदि।

पाण्डव पुराण में राजा के निर्वाचन का आधार प्रमुख रूप से पितृ या वंशानुक्रम ही है।

राज्य व्यवस्था

राज्यशास्त्रों में राज्य को सप्ताङ्ग माना गया है। महाभारत के अनुसार सप्तात्मक राज्य की रक्षा यत्नपूर्वक की जानी चाहिये।[१०] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र ये सात राज्य के अङ्ग होते हैं।[११] जिन्हें प्रकृति कहा जाता है, इनके अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इनमें सभी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में सभी का महत्त्व समान बताया गया है।[१२]

राज्य के जिन सात अङ्गों की बात मनु,[१३] कामन्दक[१४] और कौटिल्य[१५] आदि ने की है वे सभी पाण्डव पुराण में पाये जाते हैं इनमें स्वामी अथवा राजा सर्वप्रमुख है।

अमात्य

भारतीय मनीषियों ने मन्त्रियों को बहुत महत्त्व दिया है। मन्त्रियों के सत्परामर्श पर ही राज्य का विकास, उन्नति एवं स्थायित्व निर्भर है। कौटिल्य ने अमात्य का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि जिस प्रकार रथ एक पहिये से नहीं चल सकता उसी प्रकार राज्य को सुचारु रूप में चलाने के लिए राजा

---

८ वही, २।२२५
९ वही, ३।४
१० महाभारत, शान्तिपर्व, ६९।६४-६५
११ कौटिल्य, अर्थशास्त्र, ६.१.१
१२ महाभारत, शान्तिपर्व, ६१।४०
१३ मनुस्मृति, ९।२९४
१४ नीतिसार, ४.१२
१५ अर्थशास्त्र, ६.१.१

को भी सचिव रूपी दूसरे पहिए की आवश्यकता होती है।[16] शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही दक्ष क्यों न हो, फिर भी उसे मन्त्रियों के सलाह के बिना किसी भी विषय पर विचार नहीं करना चाहिये।[17] इसी प्रकार मनुस्मृति,[18] याज्ञवल्क्य स्मृति,[19] रामायण,[20] महाभारत[21] आदि ग्रन्थों में अमात्य पद का महत्त्व वर्णित है। पाण्डव पुराण में अमात्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अमात्य राजा को नीतिपूर्ण सलाह देते थे इसलिये इन्हें "युक्तिविशारद"[22] कहा गया है। मन्त्री प्रायः राजा को प्रत्येक कार्य में सलाह देते थे। राजा अकम्पन ने पुत्री सुलोचना के लिये योग्य वर की खोज के लिये मन्त्रियों से सलाह की तथा सिद्धार्थ आदि सभी मन्त्रियों की सलाह से स्वयम्वर विधि का आयोजन किया।[23] इसी प्रकार राजा द्रुपद ने[24] तथा राजा ज्वलनजटी ने[25] अपनी-अपनी पुत्री के विवाह के सम्बन्ध में मन्त्रियों से सलाह ली। मन्त्रिगण अनेक युक्तियों से राजा की रक्षा भी करते थे। किसी विद्वान् का अमोघजिह्वा नामक आदेश देने पर कि आज से सातवें दिन पोदनपुराधीश के मस्तक पर वज्रपात होगा चित्तपुर राजा ने सभी मन्त्रियों से विचार-विमर्श किया तथा युक्ति-निपुण सब मन्त्रियों ने सलाह करके राजा के पुतले को सिंहासन पर स्थापित करके राजा की रक्षा की थी।[26]

युद्ध क्षेत्र में भी मन्त्री राजा के साथ होते थे। जरासन्ध के सेनापति "हिरण्यनाभ" के युद्ध में मारे जाने पर मन्त्रियों की सलाह से जरासन्ध राजा

---

१६ वही, १.७.१५

१७ शुक्रनीति, २.२

१८ मनुस्मृति, ७.४५

१९ याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३१०

२० रामायण, अयोध्या काण्ड, १६७.१८

२१ महाभारत, सभापर्व, ५.२८

२२ पाण्डव पुराण, ४।१३१

२३ वही, ३।३२-४०

२४ वही, १५।५०-५१

२५ वही, ४।१३

२६ वही, ४।१३१-१३३

सेन्चक राजा को सेनापति नियुक्त करता है।[२७]

पुरोहित

राष्ट्र की रक्षा के लिये पुरोहित को नियुक्त करना भी आवश्यक माना गया है। कौटिल्य के अनुसार पुरोहित को शास्त्र-प्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उन्नतशील वक्ता/वेत्ता, ज्योतिष शास्त्र, शकुन शास्त्र तथा दण्ड नीतिशास्त्र में अत्यन्त निपुण और दैवी तथा मानुषी आपत्तियों के प्रतिकार में समर्थ होना चाहिये।[२८] याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार पुरोहित को ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता, सब शास्त्रों में समृद्ध, अर्थशास्त्र में कुशल तथा शान्ति कर्म में निपुण होना चाहिये।[२९] मनु के अनुसार भी पुरोहित को गृह्य कर्म तथा शान्त्यादि में निपुण होना चाहिये।[३०]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राष्ट्र में धर्म-प्रतिनिधि पुरोहित था। इस पद का महत्त्व वैदिक युग से ही रहा है। पुरोहित का अर्थ है—आगे स्थापित (पुर एवं दधति)।[३१]

पाण्डव पुराण में पुरोहित को 'पुरोधः' कहा गया है वैसे तो पुरोहित धार्मिक सत्कार्य करने के लिए नियुक्त होते थे लेकिन राजा दुर्योधन के यहाँ एक ऐसे पुरोहित का उल्लेख भी आया है जो धन के लालच में आकर पाण्डवों के निवास लाक्षागृह को जलाने को तैयार हो जाता है।[३२]

राजा युधिष्ठिर का धर्मोपदेश करने वाले पुरोहित के रूप में राजा विराट के यहाँ एक वर्ष तक (गुप्त रूप से) रहने का वर्णन भी आया है।[३३]

सेनापति

राज्य के सप्ताङ्गों में सेनापति का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सेना की सफलता योग्य सेनापति के अधीन होती है। युद्ध-भूमि में वह सम्पूर्ण सेना का संचालन करता है। अर्थशास्त्र के अनुसार सेनापति को

२७ वही, १९।६६
२८ कौटिल्य, अर्थशास्त्र, अधिकार १, प्रकरण ४, अध्याय ४, पृ० २४
२९ याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३.१३
३० मनुस्मृति, ७।७८
३१ यास्क-निरुक्त २.१२
३२ पाण्डव पुराण, १२।१३२-१३८
३३ वही. १७।२४४

सेना के चारों अंगों के प्रत्येक कार्य को जानना चाहिये। प्रत्येक प्रकार के युद्ध में सभी प्रकार के शस्त्र-शास्त्र के संचालन का परिज्ञान भी उसे होना चाहिए। हाथी-घोड़े पर चढ़ना और रथ संचालन करने में अत्यन्त प्रवीण होना चाहिये। चतुरंगी सेना के प्रत्येक कार्य का उसे परिज्ञान होना चाहिये, युद्ध में उसका कार्य अपनी सेना पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के साथ ही साथ शत्रु की सेना को नियन्त्रित करना है।[३४] महाभारत में सेनापति में अनेक गुणों का होना आवश्यक माना गया है।[३५] शुक्रनीति में भी[३६] सेनापति के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। पाण्डव पुराण में सेनापति के मस्तक पर पट्ट बाँधने का उल्लेख आया है। चक्रवर्ती जरासन्ध के द्वारा मधुराजा के मस्तक पर चर्मपट्ट बाँधने,[३७] दुर्योधन द्वारा अश्वत्थामा के मस्तक पर वीरपट्ट बाँधने तथा किसी समय भरत चक्रवर्ती द्वारा जयकुमार के मस्तक पर वीरपट्ट बाँधकर[३८] सेनापति पद दिये जाने का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि सेनापति के पद पर अत्यधिक वीर, साहसी, गुणी एवं योग्य व्यक्ति नियुक्त किया जाता था।

दूत

दूत राज्य का अभिन्न अङ्ग है। प्राचीन समय से ही राजनीति में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महाभारत,[३९] मनुस्मृति[४०] तथा हितोपदेश[४१] में दूतों के गुणों का विशद वर्णन है। कौटिल्य ने दूत को राजा का गुप्त सलाहकार माना है। दूत प्रकाश में कार्य करता है जबकि गुप्तचर छिपकर। दूत शब्द का अर्थ है—सन्देशवाहक, जिससे स्पष्ट है कि किसी विशेष कार्य के सम्पादनार्थ ही दूत भेजे जाते थे। पाण्डव पुराण में दूत व्यवस्था का उल्लेख अधिक मिलता है। राजा अन्धकवृष्णि का पाण्डु व कुन्ती के

---

[३४] अर्थशास्त्र, अधिकार २, प्रकरण ४६-५०, अध्याय ३३, पृ० २३७

[३५] महाभारत, उद्योग पर्व, १५।१६-२५

[३६] शुक्रनीति, २.४२२

[३७] पाण्डव पुराण, २०।३०४

[३८] वही, २०।३०६

[३९] वही, ३।५६

[४०] महाभारत, उद्योगपर्व, ३७।२७

[४१] मनुस्मृति, ७।६३-६४

विवाहार्थ व्यास राजा के पास दूत भेजने का,[४२] द्रुपद राजा का द्रौपदी स्वयंवर के लिये निमन्त्रण पत्रिकायें देकर दूतों को भेजने,[४३] चक्रवर्ती का यादवों के पास दूत भेजने,[४४] केशव का कर्ण के पास दूत भेजने[४५] आदि अनेक उदाहरण पाण्डव पुराण में मिलते हैं।

गुप्तचर

गुप्तचर राजा की आँखे हैं, इन्हीं के द्वारा वह राज्य की गतिविधियों को देखता रहता है। प्राचीन समय से ही गुप्तचरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने कार्यभेद से गुप्तचरों के नौ विभाग किये हैं—कापाटिका, उदास्थित, गृहपतिक, वैदहेक, तापस, स्त्री, तीक्ष्ण, रसद एवं भिक्षु।[४६] मनुस्मृति,[४७] याज्ञवल्क्यस्मृति,[४८] तथा महाभारत[४९] में भी इनका महत्त्व प्रतिपादित है। पाण्डव पुराण में जरासन्ध के गुप्त पुरुषों द्वारा द्वारिका में रह रहे पाण्डवों की खोज कराने का उल्लेख मिलता है।[५०]

राष्ट्र-रक्षा

दुर्ग, प्राकार एवं परिखा

शत्रुओं के आक्रमण से नगर एवं राजा की रक्षा के लिये प्राकार एवं दुर्ग का निर्माण किया जाता था। नगर की सुरक्षा की दृष्टि से उसके चारों ओर एक ऊँची सुदृढ़ दीवार बनायी जाती थी जिसे प्राकार कहा जाता था। पाण्डव पुराण में अत्यधिक ऊँचे प्राकार बनाने का उल्लेख आया है। हस्तिनापुर नगर के प्राकार के शिखरों पर ताराओं का समूह जड़े हुये मोतियों के समान सुशोभित हो रहा था।[५१] इस वर्णन से ही इस प्राकार की ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। नगरी की सुरक्षा के लिये उनके चारों

---

४२ हितोपदेश, विग्रह, १६

४३ पाण्डव पुराण, ८।१७

४४ वही, १५।५३

४५ वही, १६।३६

४६ अर्थशास्त्र, १।१०

४७ मनुस्मृति, ७।६६

४८ याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३२७

४९ महाभारत, ६, ३६.७.१३

५० पाण्डव पुराण, १६।२६

५१ वही, २।१८५

और परिखा या खाई खोदी जाती थीं। हस्तिनापुर नगर की खाई शेषनाग के द्वारा छोड़ी हुई विष पूर्ण, मणियुक्त और भय दिखाने वाली मानों काञ्चन ही प्रतीत होती थी।[५२] एक अन्य स्थान पर चम्पापुरी नगर की खाई की तुलना पाताल की गहराई से की गयी है।[५३] शत्रु के आक्रमण के समय नगर-द्वार को बन्द करने का वर्णन भी आया है।[५४] पाण्डव पुराण में दुर्ग का उल्लेख कहीं नहीं आया है। पतञ्जलि के अनुसार दुर्ग बनाने के लिये ऐसी भूमि ढूँढ़ी जाती थी, जिसमें परिखा बन सके।[५५] क्योंकि पाण्डव पुराण में परिखा का वर्णन मिलता है इससे स्पष्ट है कि दुर्ग भी अवश्य रहे होंगे। उनका वर्णन नहीं किया गया है।

सेना

किसी भी राज्य के आधार कोष एवं सेना माने गये हैं। राजा की शक्ति सैन्यबल से ही प्रभावशाली बन पाती है। प्राचीन काल से ही राजशास्त्र-प्रणेताओं ने बल का महत्त्व स्वीकार किया है। कौटिल्य के अनुसार राजा को दो प्रकार के कोपों से भय रहता है पहला-आन्तरिक कोप, जो अमात्यों के कोप से उत्पन्न होता है, दूसरा बाह्य कोप, जो राजाओं के आक्रमण का है। इन दोनों कोपों से रक्षा सैन्यबल से ही हो सकती है। पाण्डव पुराण में चतुरङ्गिणी सेना (बल) का उल्लेख अनेक स्थानों पर आता है। चतुरङ्ग बल के अन्तर्गत हस्तिसेना, अश्व-सेना, रथ-सेना तथा पदाति-सेना आती है। राजा श्रेणिक महावीर प्रभु के दर्शनार्थ वैभार पर्वत पर चतुरङ्ग सेना के साथ पहुँचते हैं।[५६] इसी प्रकार राजा पाण्डु वन क्रीड़ा के लिये चतुरङ्ग सेना के साथ वन में प्रस्थान करते हैं।[५७] युद्ध-क्षेत्र में तो शत्रु राजाओं से युद्ध करते समय चतुरङ्गिणी सेना का प्रयोग होता था लेकिन सुलोचना के स्वयम्वर में जयकुमार के वरण करने पर अर्ककीर्ति कुमार तथा जयकुमार के बीच हुये युद्ध में भी चतुरङ्ग सेना का उल्लेख आया है।[५८] इसी प्रकार द्रौपदी

---

[५२] वही, २।१८६

[५३] वही, ७।२७०

[५४] वही, २१।१३०

[५५] पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ३८१

[५६] पाण्डव पुराण, १।१०५

[५७] वही, ६।२-६

[५८] वही, ३।८१-८४

स्वयम्बर के समय पाण्डव-कौरव के बीच हुये युद्ध में चतुरङ्ग सेना का वर्णन आया है।[५९] इससे स्पष्ट है कि राजा लोग हर समय युद्ध के लिए तैयार रहते थे तथा सेना हमेशा सुसज्जित एवं तत्पर होती थी।

चतुरंग सेना के अतिरिक्त पाण्डव पुराण में विद्याधर सेना[६०] तथा अक्षौहिणी सेना[६१] का उल्लेख भी आया है।

युद्ध-प्रणाली

पाण्डव पुराण में प्राप्त युद्ध सम्बन्धी वर्णन प्राचीन काल से चली आ रही धर्मयुद्ध की परम्परा के हैं। पाण्डव पुराण के युद्ध वर्णनों से स्पष्ट है कि प्रायः रात्रि में युद्ध रोक दिया जाता था।[६२] लेकिन बीसवें पर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि योद्धागण रात्रि में और दिन में हमेशा लड़ते रहते थे और जब उन्हें निद्रा आती थी तब वे रण-भूमि में ही इधर-उधर लुढ़कते थे और सो जाते थे फिर उठकर लड़ते थे और मरते थे।[६३] युद्ध के समय उचित-अनुचित, मान-मर्यादा का पूरा ध्यान रखा जाता था। युद्ध-भूमि में द्रोणाचार्य के उपस्थित होने पर अर्जुन शिष्य का गुरु के साथ युद्ध करना अनुचित बतलाते हैं तथा मर्यादा का पालन करते हुये, गुरु के कहने पर भी वे गुरु से पहला बाण छोड़ने को कहते हैं।[६४] पितामह भीष्म तथा द्रोणाचार्य के युद्ध भूमि में पृथ्वी पर गिर पड़ने पर दोनों पक्षों के सभी राजा रण छोड़कर उनके पास आ जाते हैं।[६५] इससे स्पष्ट है कि बड़ों का मान-सम्मान युद्ध-भूमि में भी किया जाता था।

पाण्डव पुराण के युद्ध वर्णनों में प्रायः अनेक प्रकार के दिव्यास्त्रों के प्रयोग का उल्लेख आया है। उदाहरणार्थ—शासन देवता से प्राप्त नागबाण,[६६] उत्तम दैवी गदा,[६७] जलबाण, स्थलबाण तथा नभश्चर

५९ वही, १५।१३०-१३१
६० वही, ३।१०४
६१ वही, १८।१७०, १९।४५, १९।९६
६२ वही, २०।३८, १९।१९६
६३ वही, २०।२४१
६४ वही, १८।१३१-१३४
६५ वही, १९।२५१
६६ वही, २०।१७६
६७ वही, २०।१३३

बाण।[६८] विद्या के बल से भी युद्ध किया जाता था। इस सन्दर्भ में माहेश्वरी विद्या,[६९] बहुरूपिणी, स्तंभिनी, चक्रिणी, शूला, मोहिनी,[७०] भ्रामरी आदि का उल्लेख युद्ध वर्णनों में पाया जाता है।

पाण्डव पुराण में युद्ध वर्णनों का बाहुल्य है। कवि के युद्ध वर्णन का कौशल अद्वितीय है। युद्ध वर्णनों के पठन अथवा श्रवण मात्र से ही युद्ध की भीषणता का दृश्य आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ— अर्जुन के द्वारा गिराये हुये भग्न रथों से मार्ग रुक गया तथा जिनकी शुण्डायें टूट गयी हैं और जो दुःख से चिंघाड रहे हैं ऐसे हाथियों से मार्ग व्याप्त हुआ। रणभूमि में मस्तक रहित शरीर नृत्य करने लगे तथा उनके मस्तकों द्वारा भूमि लाल हो गयी। अगाध समुद्र में तैरने के लिये असमर्थ मनुष्य जैसे उसमें कहीं भी स्थिर नहीं होते वैसे ही योद्धाओं के रक्त के प्रवाह में तैरने वाले मानव कहीं भी नहीं ठहर सके।[७१]

युद्ध के प्रारम्भ में रण सूचक वाद्य बजाये जाते थे इनमें रणभेरी,[७२] पाञ्चजन्य शंख,[७३] देवदत्त शंख,[७४] दुन्दुभि[७५] आदि का उल्लेख आया है। सैन्य में हुये शकुन तथा अपशकुन पर भी विचार करने का उल्लेख पाण्डव पुराण में आया है। मगधपति जरासन्ध के सैन्य में अनेकों दुर्निमित्त हुये जो कि जय के अभाव को सूचित करते थे तब दुर्योधन ने अपने कुशल मन्त्री को बुलाकर इन सब दुर्निमित्त के बारे में विचार किया था।[७६]

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था के बारे में पाण्डव पुराण में विशेष उल्लेख नहीं आया है, एक स्थान पर केवल इतना कहा गया है कि श्रीवर्मा राजा ने अपने

---

६८ वही, २०।२८३

६९ वही, २०।३०८

७० वही, २०।३३०

७१ वही, २०।१११-११३

७२ वही, ३।८१, १९।३२

७३ वही, १९।७७, २०।१६४

७४ वही, २१।१२७

७५ वही, १५।१२९

७६ वही, १९।८२-८५

चार ब्राह्मण मन्त्रियों को, जो कि अकम्पनाचार्य के संघ को तथा श्रुतासागर मुनि को मारने के लिये उद्यत हुये थे, गधे पर बैठा कर तथा उसके मस्तकों को मुड़वाकर दण्ड स्वरूप उन्हें नगर से बाहर निकाल दिया था।[७७] इसके अतिरिक्त कहीं पर भी न्याय व दण्ड विधान का कोई भी उल्लेख नहीं आया है।

---

७७ पाण्डव पुराण, ७।४९-५०

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

एक रात्रि कैकसी ने स्वप्न देखा—हस्तीकुम्भ को विदीर्ण करते हुये एक सिंह उसके मुख में प्रविष्ट हो गया। दूसरे दिन सुबह उसने अपने पति को स्वप्न बतलाया। रत्नश्रवा बोला, 'यह स्वप्न सूचित करता है कि तुम्हारे महाबलवान और अद्वितीय पुत्र होगा।' उस स्वप्न को देखने के पश्चात् कैकसी प्रतिदिन चैत्यपूजन के लिए जाने लगी और उस महासारभूत गर्भ का पोषण करने लगी। गर्भ के प्रभाव से उसकी वाणी कर्कश हो गयी, शरीर श्रम करने में समर्थ और दृढ़ हो गया। दर्पण हाथ में होते हुए भी वह खड्ग में अपना मुख देखने लगी और निःशंक होकर देवों को भी आज्ञा देने लगी। बिना प्रयोजन के ही उसके मुख से परूष वाक्य निकलने लगे। गुरु-जनों के सम्मुख भी उसने सिर झुकाना छोड़ दिया। विज्ञजनों के मस्तक पर पैर रखने की उसकी इच्छा होने लगी। इस भाँति गर्भ के प्रभाव से वह सबके प्रति कठोर भाव रखने लगी। यथा समय उसने चौदह हजार वर्ष की आयुष्ययुक्त पुत्र को जन्म दिया। उसके जन्म के समय समस्त शत्रुओं के सिंहासन कम्पित हो गए। सूतिकागृह में सोए हुए ही हाथ-पाँव चलाता हुआ वह पराक्रमी शिशु पास में ही रखी करण्डिका से नौ माणिक्ययुक्त हार को जिसे कि भीमेन्द्र ने उनके पूर्वजों को दिया था खींचकर बाहर निकाल लिया और शिशु की सहज चपलता में ही उसे धारण कर लिया। कैकसी और धात्रियां इस दृश्य को देखकर चकित हो गयीं। कैकसी अपने पति को बोली, 'हे नाथ, जो हार राक्षसेन्द्र ने आपके पूर्व पुरुष राजा मेघवारन को दिया था, जिस हार की आपके पूर्वज आज तक पूजा करते आ रहें हैं, जिस नौ माणिक्ययुक्त हार को कोई उठा नहीं सका और निधि की तरह जिसकी एक हजार नागदेव रक्षा करते हैं उसी हार को आपके नवजात शिशु ने आज करण्डिका से खींचकर बाहर निकाला और गले में पहन लिया।' नौ माणिक्यों में उसका मुख प्रतिबिम्बित होने के कारण रत्नश्रवा ने उसी समय उसका नाम दसमुख (दशानन) रखा और बोला—'मेरे पिता सुमाली एक बार जब चैत्यवन्दन करने मेरु पर्वत पर गये थे तब वहाँ एक मुनि से एक प्रश्न किया था जिसके प्रत्युत्तर में उन चार ज्ञान के धारक मुनि ने कहा था—तुम्हारे

पूर्व की परम्परा से आया नौ माणिक्ययुक्त हार जो धारण करेगा वह अर्द्धचक्री अर्थात् प्रतिवासुदेव होगा।'

कालान्तर में कैकसी ने पुनः गर्भधारण किया। गर्भधारण के समय स्वप्न में सूर्य को देखा अतः नव जातक के होने पर उसका नाम भानुकर्ण रखा। अन्य नाम कुम्भकर्ण। फिर इसके बाद कैकसी ने एक कन्या को जन्म दिया। उसके नाखून चन्द्रमा-से सुन्दर थे। उसका नाम इसलिए चन्द्रनखा रखा गया किन्तु लोग उसे सूर्पनखा कहने लगे। कुछ समय बाद चन्द्र स्वप्न से सूचित होकर कैकसी ने विभीषण नामक एक पुत्र को जन्म दिया। तीनों भाइयों की ऊँचाई सोलह धनुष से अधिक थी। तीनों भाई बाल सुलभ क्रीड़ा करते हुए बाल्यकाल व्यतीत करने लगे।

प्रथम सर्ग समाप्त

द्वितीय सर्ग

एक दिन दसमुख और उसके भाइयों ने वैश्रवण को महासमृद्धशाली विमान में बैठकर जाते देखा। वह कौन है यह पूछने पर उसकी माँ बोली, 'वह मेरी बड़ी बहन कौशिकी का पुत्र है। उसके पिता का नाम विश्रवा है। समस्त विद्याधरों के अधीश्वर इन्द्र का वह मुख्य सैनिक है। इन्द्र ने तुम्हारे पितामह के अग्रज माली की हत्या कर राक्षस द्वीप सहित हमारी लंका नगरी भी उसे दे दी। तभी से तुम्हारे पिता लंकापुरी के उद्धार की इच्छा लिए यहीं रह रहे हैं। शत्रु के समर्थ होने पर ऐसाही करना उचित है।

'राक्षसपति भीमेन्द्र ने शत्रुओं का प्रतिकार करने के लिए हमारे पूर्वजों के पुत्र मेघवाहन को जो कि राक्षसवंश के आदि पुरुष थे लंका सहित राक्षस द्वीप पाताल लंका और राक्षसी विद्या प्रदान की थी। तुम्हारे पूर्व पुरुषों की राजधानी पर शत्रुओं का दखल हो जाने के कारण तभी से तुम्हारे पितामह, पिता प्राणहीन जड़ पदार्थ की भाँति यहाँ निवास कर रहे हैं। वृष जैसे रक्षणहीन क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता है उसी भाँति शत्रु वहां स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं यह बात तुम्हारे पिता के हृदय को शल्य की तरह बींध रही है। वत्स, मैं अभागिन न जाने कब तुम्हें और तुम्हारे भाइयों को तुम्हारे पितामह के लंका के सिंहासन पर बैठकर राज्य करते देखूंगी। लंका को लूटनेवालों को कब कारागार में कैदी रूप में देखकर पुत्रवतियों में स्वयं को अग्रगण्य समझूँगी। हे पुत्र, आकाश कुसुम से अपने इस मनोरथ को हृदय में रखे यहाँ दिन व्यतीत कर रही हूँ और उस मनोरथ की पूर्ति न होते

देखकर हंसिनी जिस प्रकार मरूभूमि में मुरझाती है उसी प्रकार दिन पर दिन चिन्ता के भार से सूखती जा रही हूँ।'

माँ की यह बात सुनकर विभीषण का मुख क्रोध से भयंकर हो उठा। वह बोला, 'माँ, दुःखी मत हो वर्ना तुम अपने पुत्रों के पराक्रम को नहीं जानती। हे देवी, महाबलशाली अग्रज दशानन के आगे इन्द्र भी क्या और वैश्रवण भी क्या ? अन्य बली विद्याधरों की तो बात ही छोड़िए। सुप्त सिंह जिस प्रकार गजेन्द्र की गर्जन सहन करता है, उसी प्रकार वस्तु स्थिति से अज्ञात होने के कारण उन्होंने लंका में शत्रुओं के अवस्थान को इतने दिनों तक सहन किया है। आर्य दशानन के अतिरिक्त कुम्भकर्ण ही इन शत्रुओं को निःशेष करने में समर्थ हैं। इतना ही नहीं, क्या मेरे अग्रज यदि मुझे आदेश दें तो मैं ही बज्रपात की तरह शत्रुओं पर पतित होकर उनका नाश कर सकता हूँ।'

यह सुनकर रावण निचले होठों को दंशन करता हुआ बोला, 'माँ, सचमुच ही तुम्हारा हृदय बज्र की तरह कठोर है। तभी तो इतने दिनों तक इस दुःख को हृदय में वहन करती आ रही हो। इन्द्रादि विद्याधरों को तो मैं केवल हाथों से ही मर्दन कर सकता हूँ। शस्त्र के बदले शस्त्र की तो बात ही क्या ? कारण वे मेरे लिए तृणवत् है। यद्यपि मैं बाहुबल से उन्हें पराजित कर सकता हूँ फिर भी विद्या जो कुलक्रमागत है उसका व्यवहार ही उपयुक्त है। उन अनन्य विद्याओं को मैं अधिगत करूँगा। अतः माँ, आदेश दो अपने अनुजों सहित मैं उन विद्याओं की साधना करूँ।'

ऐसा कहकर उसने माता-पिता को प्रणाम किया। माता पिता ने उसका मस्तक चूमा। तदुपरान्त वह अनुज सह भयंकर महावन में चला गया। वह महावन समीप के वृक्षों पर स्थित सरिसृप और अजगरों की निःश्वास से काँपता रहता, गर्वित बाघों की पूँछ के आघात से पृथ्वी दीर्ण-विदीर्ण होती रहती। वृक्षों से उत्थित बृहद-बृहद उल्लुओं के चित्कार से सर्वत्र भय सा छाया रहता। नृत्यरत भूत प्रेतों के चरणाघात से पर्वतों के शिलाखंड टूट-टूट कर गिरते रहते। श्वापद संकुल उस वन में प्रवेश करते देव भी डरते थे। ऐसे महावन में तपस्वियों की भाँति जटा मुकुट धारण कर हाथ में अक्षमाला लेकर श्वेत वस्त्र पहनकर नासाग्र पर दृष्टि रखकर तीनों भाई सर्व अभिष्ट प्रदानकारी अष्टाक्षरी विद्या को दो प्रहर में ही सिद्ध कर ली। तदुपरान्त वे सोलह अक्षरी विद्या, जो कि दस हजार जाप में सिद्ध होती है, सिद्ध करने के लिए जाप करने लगे।

उसी समय जम्बूद्वीप के अधीश्वर अनादृत नामक यक्ष अन्तःपुरिकाओं को लेकर उस वन में क्रीड़ा करने आए एवं वहाँ उन लोगों को देखकर वे अपना मंत्र सिद्ध न कर सके इसलिए अनुकूल उपसर्ग की सृष्टिकर अपनी अन्तःपुरिकाओं को वहाँ भेजा। वे उन्हें लुब्ध करने आयी थीं किन्तु उनका रूप और यौवन देखकर स्वयं ही लुब्ध होकर अपने पति की बात भूल गईं और उन्हें मौन, स्थिर, निर्विकारी देखकर कामातुर बनी बोलने लगीं, 'आर्य, आप लोग क्यों ध्यान में जड़ होकर बैठे हैं? एक बार आँख खोलकर हमारी ओर देखने का प्रयत्न करें। हम देव कन्याएँ आपके वशीभूत हो गयी हैं। इसके अधिक आप और क्या सिद्ध करना चाहते हैं? अब विद्या सिद्धि के लिए प्रयत्न क्यों? उसकी क्या आवश्यकता है? जब कि देवियाँ ही आपके वशीभूत हो गई हैं तो आप विद्या लेकर क्या करेंगे? हे देवोत्तमगण, तीन लोक के सबसे अधिक रमणीय प्रदेश में जाकर अभी तो हमारे साथ यौवन सुख भोग करिए।'

अत्यन्त मधुर भाव से सम्बोधन करने पर भी वे तीनों धैर्य शाली भाई जरा भी विचलित नहीं हुए। इससे वे देवियाँ ही लज्जित हो गयीं। कहा भी है—एक हाथ से ताली नहीं बजती।

[क्रमशः

संकलन

॥ मन्दिर के अतिशय को सुरक्षित रखना होगा ॥

सब जगह मन्दिर बनें यह तो अच्छी बात है। पर वास्तविक पुजारी ना बढ़े, तो मन्दिर कैसे फलदायी होगा? पुजारी कभी भगवान के लिए पूजा नहीं करता, उसकी सारी पूजा किराये की है। उसकी हर पूजा पद्धति में व्यवसायिक बुद्धि रहेगी। उसे इस बात से कोई सरोकार नहीं होता कि मंदिर में कितने लोग आये, उसे तो इस बात से मतलब होता है कि किसने, क्या चढ़ाया?

भक्त लोग मन्दिर में भेंट-पूजा चढ़ाते हैं। मैंने पाया है कि पुजारी उन्हें बाहर लाकर बेच देता है। भक्त उसी को फिर खरीदता है, वही मन्दिर में आकर फिर चढ़ जाता है। खरीद-फरोख्त का यह क्रम मन्दिर की प्रदक्षिणा की तरह चलता रहता है। अब यह कोई पूजा हुई? यह तो मात्र खरीद-बिक्री हुई। मन्दिर कोई परचूनी की दुकान थोड़े ही है; मन्दिर तो मन्दिर है। खयाल रहे, मन्दिर में सिर्फ मन्दिर हो, संसार नहीं।

मैंने सुना है, किसी मन्दिर के बाहर कोई चिल्लर/रेजगारी बेचता है। वह एक रुपये में अस्सी पैसे खुले देता है। लोग वे पैसे मन्दिर में चढ़ाते हैं; पुजारी वही रेजगारी वापस उसी विक्रेता को लाकर बेच देता है। सीढ़ी से पैसा 'पूजा' बन कर भीतर जाता है और भीतर से 'दुकान' बन कर बाहर आता है। और पैसों की इस आवाजाही में भक्ति का तथाकथित रूप चलता रहता है। एक ऐसा रूप जो श्रद्धा नहीं, मात्र रूढ़ि का निर्वाह होता है।...

सचमुच पुजारी के भरोसे मन्दिरों को सौंप देना उसके अतिशय को गिरवी रख देना है। यदि हम चाहते हैं कि मन्दिर हमारे लिए जीवन के हर मोड़ पर कल्याण और सार्थक सहायक सिद्ध हो तो उसके अतिशय को सुरक्षित रखना होगा।

—मुनि चन्द्रप्रभ सागर

तीर्थंकर, जनवरी १९९२

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

अनेकान्त || अक्टूबर-दिसम्बर १९९१

इस अंक में है 'कर्नाटक में जैन धर्म' (राजमल जैन), 'अतिशय क्षेत्र अहार के जैन यंत्र' (डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'), 'मुनिश्री मदनकीर्ति द्वय' (कुन्दनलाल जैन), 'जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ' (रामनरेश पाठक), 'कामां के कवि सेढूमल का काव्य' (डॉ० गंगाराम गर्ग), 'सम्यग् दर्शन के तीन रूप' (मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर'), 'पद्मावती पूजन, समाधान का प्रयत्न' (एम० एल० जैन), 'काशी के आराध्य सुपार्श्वनाथ' (हेमन्त कुमार जैन)।

जैन जर्नल || अक्टूबर १९९१

इस अंक में है 'Jaina Monuments of Pudukkottai Region' (A. Ekambaranathan), 'Status of Woman in Jaina Society' (Vilas Sangave), 'Modern' Science and the Principle of Karmons In Jainism' (Kanti V. Mardia), 'The Doctrine of Anekanta and its Significance' (Dr. B. K. Khadabadi), 'Influence of Prakrit on Kannada Language and Literature' (Hampa Nagarajaih), 'Sraman Sanskriti' (H. C. Golchha).

तीर्थंकर || जनवरी १९९२

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'मन्दिर हों मन-मन्दिर की अनुकृतियाँ' (मुनि चन्द्रप्रभ सागर), 'होमियोपैथी : हिंसा कितनी ! क्रूरता कितनी !!' (मुनि हितरुचि विजय), 'शाकाहार-रैलियों को प्रभावशाली बनाइये' (निर्मल जैन)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

**Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets**

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

**Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356**

Main Office :

**4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007**
Phone : 38-5960

Branch Office :

Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-253

Vol. XV No. 10 TITTHAYARA February 1992

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 24582/73